299

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश तथा ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

जयदयाल गोयन्दका

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश

परमात्माकी शरणमें प्राप्त हुए पुरुषका मन परमात्मासे प्रार्थना करता है—

हे प्रभो! हे विश्वम्भर! हे दीनदयालो! हे कृपासिन्धो! हे अन्तर्यामिन्! हे पतितपावन! हे सर्वशक्तिमान्! हे दीनबन्धो! हे नारायण! हे हरे! दया कीजिये, दया कीजिये। हे अन्तर्यामिन्! आपका नाम संसारमें दयासिन्धु और सर्वशक्तिमान् विख्यात है, इसीलिये दया करना आपका काम है।

हे प्रभो! यदि आपका नाम पतितपावन है तो एक बार आकर दर्शन दीजिये। मैं आपको बारम्बार प्रणाम करके विनय करता हूँ, हे प्रभो! दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये। हे प्रभो! आपके बिना इस संसारमें मेरा और कोई भी नहीं है। एक बार दर्शन दीजिये, दर्शन दीजिये, विशेष न तरसाइये! आपका नाम विश्वम्भर है, फिर मेरी आशाको क्यों नहीं पूर्ण करते हैं। हे करुणामय! हे दयासागर! दया कीजिये। आप दयाके समुद्र हैं, इसलिये किञ्चित् दया करनेसे आप दयासागरमें कुछ दयाकी त्रुटि नहीं हो जायगी। आपकी किञ्चित् दयासे सम्पूर्ण संसारका उद्धार हो सकता है, फिर एक तुच्छ जीवका उद्धार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है। हे प्रभो! यदि आप मेरे कर्तव्यको देखें तब तो इस संसारसे मेरा निस्तार होनेका कोई उपाय ही नहीं है। इसलिये आप अपने पतितपावन नामकी ओर देखकर इस तुच्छ जीवको दर्शन दीजिये। मैं न तो कुछ भक्ति जानता हूँ, न योग जानता हूँ तथा न कोई क्रिया ही जानता हूँ जो कि मेरे

कर्तव्यसे आपका दर्शन हो सके। आप अन्तर्यामी होकर यदि दयासिन्धु नहीं होते तो आपको संसारमें कोई दयासिन्धु नहीं कहता, यदि आप दयासागर होकर भी अन्तरकी पीड़ाको न पहचानते तो आपको कोई अन्तर्यामी नहीं कहता। दोनों गुणोंसे युक्त होकर भी यदि आप सामर्थ्यवान् न होते तो आपको कोई सर्वशक्तिमान् और सर्वसामर्थ्यवान् नहीं कहता। यदि आप केवल भक्तवत्सल ही होते तो आपको कोई पतितपावन नहीं कहता। हे प्रभो! हे दयासिन्धो! एक बार दया करके दर्शन दीजिये॥ १॥

जीवात्मा अपने मनसे कहता है—

रे दुष्ट मन! कपटभरी प्रार्थना करनेसे क्या अन्तर्यामी भगवान् प्रसन्न हो सकते हैं? क्या वे नहीं जानते कि ये सब तेरी प्रार्थनाएँ निष्काम नहीं हैं? एवं तेरे हृदयमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम कुछ भी नहीं है? यदि तुझको यह विश्वास है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं तो फिर किसलिये प्रार्थना करता है? बिना प्रेमके मिथ्या प्रार्थना करनेसे भगवान् कभी नहीं सुनते और यदि प्रेम है तो फिर कहनेसे प्रयोजन ही क्या है? क्योंकि भगवान्‌ने तो स्वयं ही श्रीगीताजीमें कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४। ११)

'जो मेरेको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' तथा—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९। २९)

'जो (भक्त) मेरेको भक्तिसे भजते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ।'*

---

*जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्याप्त हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है।

रे मन! हरि दयासिन्धु होकर भी यदि दया न करें तो भी कुछ चिन्ता नहीं, अपनेको तो अपना कर्तव्यकार्य करते ही रहना चाहिये। हरि प्रेमी हैं, वे प्रेमको पहचानते हैं। प्रेमके विषयको प्रेमी ही जानता है, वे अन्तर्यामी भगवान् क्या तेरे शुष्क प्रेमसे दर्शन दे सकते हैं? जब विशुद्ध प्रेम और श्रद्धा-विश्वासरूपी डोरी तैयार हो जायगी तो उस डोरीद्वारा बँधे हुए हरि आप-ही-आप चले आवेंगे। रे मूर्ख मन! क्या मिथ्या प्रार्थनासे काम चल सकता है? क्योंकि हरि अन्तर्यामी हैं। रे मन! तुझको नमस्कार है, तेरा काम संसारमें चक्कर लगानेका है, सो जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा। तेरे ही संगके कारण मैं इस असार संसारमें अनेक दिन फिरता रहा, अब हरिके चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करनेसे तेरा सम्पूर्ण कपट जान गया, तू मेरे लिये कपटभाव और अति दीन वचनोंसे भगवान्से प्रार्थना करता है। परंतु तू नहीं जानता कि हरि अन्तर्यामी हैं। श्रीयोगवासिष्ठमें ठीक ही लिखा है कि मनके अमन हुए बिना अर्थात् मनका नाश हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। वासनाका क्षय, मनका नाश और परमेश्वरकी प्राप्ति—ये तीनों एक ही कालमें होते हैं। इसलिये तुझसे विनय करता हूँ कि तू यहाँसे अपने माजनेसहित चला जा, अब यह पक्षी तेरी मायारूपी फाँसीमें नहीं फँस सकता; क्योंकि इसने हरिके चरणोंका आश्रय लिया है। क्या तू अपनी दुर्दशा कराके ही जायगा? अहो! कहाँ वह माया? कहाँ काम-क्रोधादि शत्रुगण? अब तो तेरी सम्पूर्ण सेनाका क्षय होता जाता है, इसलिये अपना प्रभाव पड़नेकी आशाको त्यागकर जहाँ इच्छा हो चला जा॥ २॥

मन फिर परमात्मासे प्रार्थना करता है—

प्रभो! प्रभो! दया करिये, हे नाथ! मैं आपके शरण हूँ। हे शरणागत-प्रतिपालक! शरण आयेकी लज्जा रखिये। हे प्रभो! रक्षा करिये, रक्षा करिये, एक बार आकर दर्शन दीजिये। आपके बिना

इस संसारमें मेरे लिये कोई भी आधार नहीं है, अतएव आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ, प्रणाम करता हूँ, विलम्ब न करिये, शीघ्र आकर दर्शन दीजिये। हे प्रभो! हे दयासिन्धो! एक बार आकर दासकी सुध लीजिये। आपके न आनेसे प्राणोंका आधार कोई भी नहीं दीखता। हे प्रभो! दया करिये, दया करिये, मैं आपके शरण हूँ, एक बार मेरी ओर दयादृष्टिसे देखिये। हे प्रभो! हे दीनबन्धो! हे दीनदयालो! विशेष न तरसाइये; दया करिये। मेरी दुष्टताकी ओर न देखकर अपने पतितपावन स्वभावका प्रकाश करिये॥ ३॥

जीवात्मा अपने मनसे फिर कहता है—

रे मन ! सावधान! सावधान! किसलिये व्यर्थ प्रलाप करता है। वे श्रीसच्चिदानन्दघन हरि झूठी विनती नहीं चाहते। अब तेरा कपट यहाँ नहीं चलेगा, तू मेरे लिये क्यों हरिसे कपटभरी प्रार्थना करता है? ऐसी प्रार्थना मैं नहीं चाहता, तेरी जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा।

यदि हरि अन्तर्यामी हैं तो प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है? यदि वे प्रेमी हैं तो बुलानेकी क्या आवश्यकता है? यदि वे विश्वम्भर हैं तो माँगनेकी क्या आवश्यकता है? तेरेको नमस्कार है, तू यहाँसे चला जा; चला जा॥ ४॥

जीवात्मा अपनी बुद्धि और इन्द्रियोंसे कहता है—

हे इन्द्रियो! तुमको नमस्कार है, तुम भी जाओ, जहाँ वासना होती है वहाँ तुम्हारा टिकाव होता है। मैंने हरिके चरणकमलोंका आश्रय लिया है, इसलिये अब तुम्हारा दाव नहीं पड़ेगा। हे बुद्धे! तुझको भी नमस्कार है, पहले तेरा ज्ञान कहाँ गया था जब कि तू मुझको संसारमें डूबनेके लिये शिक्षा दिया करती थी? क्या वह शिक्षा अब लग सकती है॥ ५॥

जीवात्मा परमात्मासे कहता है—

हे प्रभो! आप अन्तर्यामी हैं, इसलिये मैं नहीं कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये, क्योंकि यदि मेरा पूर्ण प्रेम होता तो क्या

आप ठहर सकते? क्या वैकुण्ठमें लक्ष्मी भी आपको अटका सकतीं? यदि मेरी आपमें पूर्ण श्रद्धा होती तो क्या आप विलम्ब करते? क्या वह प्रेम और विश्वास आपको छोड़ सकता? अहो, मैं व्यर्थ ही संसारमें निष्कामी और निर्वासनिक बना हुआ हूँ और व्यर्थ ही अपनेको आपके शरणागत मानता हूँ। परंतु कोई चिन्ता नहीं, जो कुछ आकर प्राप्त हो उसीमें मुझे प्रसन्न रहना चाहिये। क्योंकि ऐसे ही आपने श्रीगीताजीमें कहा है*। इसलिये आपके चरणकमलोंकी प्रेम-भक्तिमें मग्न रहते हुए यदि मुझको नरक भी प्राप्त हो तो वह भी स्वर्गसे बढ़कर है। ऐसी दशामें मुझको क्या चिन्ता है? जब मेरा आपमें प्रेम होगा तो क्या आपका नहीं होगा? जब मैं आपके दर्शन बिना नहीं ठहर सकूँगा, उस समय क्या आप ठहर सकेंगे? आपने तो स्वयं श्रीगीताजीमें कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४। ११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' अतएव मैं नहीं कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये। और आपको भी क्या परवा है, परंतु कोई चिन्ता नहीं, आप जैसा उचित समझें वैसा ही करें। आप जो कुछ करें उसीमें मुझको आनन्द मानना चाहिये॥ ६॥

जीवात्मा ज्ञाननेत्रोंद्वारा परमेश्वरका ध्यान करता हुआ आनन्दमें विह्वल होकर कहता है—

अहो! अहो! आनन्द! आनन्द! प्रभो! प्रभो! क्या आप पधारे? धन्य भाग्य! धन्य भाग्य! आज मैं पतित भी आपके चरणकमलोंके प्रभावसे कृतार्थ हुआ। क्यों न हो, आपने स्वयं श्रीगीताजीमें कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

---

*'यदृच्छालाभसंतुष्टः (गीता अध्याय ४ श्लोक २२), संतुष्टो येन केनचित्' (गीता अध्याय १२ श्लोक १९)।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'यदि (कोई) अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको (निरन्तर) भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।'

'इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता'॥ ७ ॥

जीवात्मा परमात्माके आश्चर्यमय सगुणरूपको ध्यानमें देखता हुआ अपने मन-ही-मनमें उनकी शोभाका वर्णन करता है—

अहो! कैसे सुन्दर भगवान्‌के चरणारविन्द हैं कि जो नीलमणिके ढेरकी भाँति चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं। चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ जिनपर रत्नजटित सुवर्णके नूपुर शोभायमान हैं। जैसे भगवान्‌के चरणकमल हैं, वैसे ही जानु और जंघादि अङ्ग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके भीतरसे चमक रहे हैं। अहो! सुन्दर चार भुजाएँ कैसी शोभायमान हैं। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें तो शङ्ख और चक्र एवं नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं। चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि सुन्दर-सुन्दर आभूषण शोभित हैं। अहो! भगवान्‌का वक्षःस्थल कैसा सुन्दर है, जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न विराजमान है तथा नीलकमलके सदृश वर्णवाली भगवान्‌की ग्रीवा भी कैसी सुन्दर है। जिसमें रत्नजटित हार और कौस्तुभमणि विराजमान हैं एवं मोतियोंकी और वैजयन्ती तथा सुवर्णकी और भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी मालाएँ सुशोभित हैं। सुन्दर ठोड़ी, लाल ओष्ठ और भगवान्‌की अतिशय सुन्दर नासिका है,

जिसके अग्रभागमें मोती विराजमान है। भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके पुष्पकी भाँति खिले हुए हैं। कानोंमें रत्नजटित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारी तिलक एवं शीशपर रत्नजटित किरीट (मुकुट) शोभायमान है। अहो! भगवान्‌का मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति गोल-गोल कैसा मनोहर है। जिसके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें देदीप्यमान हैं। जिनके प्रकाशसे मुकुटादि सम्पूर्ण भूषणोंके रत्न चमक रहे हैं। अहो! आज मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ कि जो मन्द-मन्द हँसते हुए आनन्दमूर्ति हरिभगवान्‌का दर्शन कर रहा हूँ॥ ८॥

इस प्रकार आनन्दमें विह्वल हुआ जीवात्मा ध्यानमें अपने सम्मुख सवा हाथकी दूरीपर बारह वर्षकी सुकुमार अवस्थाके रूपमें भूमिसे सवा हाथ ऊँचे आकाशमें विराजमान परमेश्वरको देखता हुआ उनकी मानसिक पूजा करता है।

मानसिक पूजाकी विधि

ॐ पादयोः पाद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ १॥

इस मन्त्रको बोलकर शुद्ध जलसे श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंको धोकर उस जलको अपने मस्तकपर धारण करना॥ १॥

ॐ हस्तयोरर्घ्यं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ २॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरिभगवान्‌के हस्तकमलोंपर पवित्र जल छोड़ना॥ २॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ३॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीनारायणदेवको आचमन कराना॥ ३॥

ॐ गन्धं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ४॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरिभगवान्‌के ललाटपर रोली लगाना॥ ४॥

ॐ मुक्ताफलं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ५॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के ललाटपर मोती लगाना ॥ ५ ॥

ॐ पुष्पं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ६ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के मस्तकपर और नासिकाके सामने आकाशमें पुष्प छोड़ना ॥ ६ ॥

ॐ मालां समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ७ ॥

इस मन्त्रको बोलकर पुष्पोंकी माला श्रीहरिके गलेमें पहनाना ॥ ७ ॥

ॐ धूपमाघ्रापयामि नारायणाय नमः ॥ ८ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के सामने अग्निमें धूप छोड़ना ॥ ८ ॥

ॐ दीपं दर्शयामि नारायणाय नमः ॥ ९ ॥

इस मन्त्रको बोलकर घृतका दीपक जलाकर श्रीविष्णुभगवान्‌के सामने रखना ॥ ९ ॥

ॐ नैवेद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १० ॥

इस मन्त्रको बोलकर मिश्रीसे श्रीहरिभगवान्‌के भोग लगाना ॥ १० ॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ११ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को आचमन कराना ॥ ११ ॥

ॐ ऋतुफलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १२ ॥

इस मन्त्रको बोलकर ऋतुफल (केला आदि) श्रीभगवान्‌के भोग लगाना ॥ १२ ॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १३ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को फिर आचमन कराना ॥ १३ ॥

ॐ पूगीफलं सताम्बूलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १४ ॥

इस मन्त्रको बोलकर सुपारीसहित नागरपान श्रीभगवान्‌के अर्पण करना ॥ १४ ॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १५ ॥

इस मन्त्रको बोलकर पुनः श्रीहरिको आचमन कराना। फिर सुवर्णके थालमें कपूरको प्रदीप्त करके श्रीनारायणदेवकी आरती उतारना ॥ १५ ॥

ॐ पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १६ ॥

इस मन्त्रको बोलकर सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंकी अञ्जलि भरकर श्रीहरिभगवान्‌के मस्तकपर छोड़ना ॥ १६ ॥

फिर चार प्रदक्षिणा करके श्रीनारायणदेवको साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करना ॥ ९ ॥

उक्त प्रकारसे श्रीहरिभगवान्‌की मानसिक पूजा करनेके पश्चात् उनको अपने हृदय-आकाशमें शयन कराके जीवात्मा अपने मन-ही-मनमें श्रीभगवान्‌के स्वरूप और गुणोंका वर्णन करता हुआ बारम्बार सिरसे प्रणाम करता है—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

'जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र विष्णुभगवान्‌को मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ।'

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान

जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वियोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जो गम्भीर हैं, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं कर सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवल कल्पनामात्र ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे अनुपमेय श्रीहरिभगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णुभगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, जिनके सारे अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई शोभा देती हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरिभगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है॥ १०॥

जीवात्मा मन-ही-मनमें श्रीहरिभगवान्‌को पंखेसे हवा करता हुआ एवं उनके चरणोंकी सेवा करता हुआ उनकी स्तुति करता है—

अहो! हे प्रभो! आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही महेश हैं, आप ही सूर्य हैं, आप ही चन्द्रमा और तारागण हैं, आप ही भूर्भुवः, स्वः—तीनों लोक हैं तथा सातों द्वीप और चौदह भुवन आदि जो कुछ भी है, सब आपहीका स्वरूप है, आप ही विराट्स्वरूप हैं, आप ही हिरण्यगर्भ हैं, आप ही चतुर्भुज हैं और मायातीत शुद्ध ब्रह्म भी आप ही हैं, आपहीने अपने अनेक रूप धारण किये हैं, इसलिये सम्पूर्ण संसार आपहीका स्वरूप है तथा द्रष्टा, दृश्य, दर्शन जो कुछ भी है सो सब आप ही हैं।* अतएव—

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥

---

*'एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः।' (विष्णुसहस्रनाम १४०)

'पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाला महान् भूत एक ही विष्णु अनेक रूपसे स्थित है।' तथा 'एकोऽहं बहु स्याम' (इति श्रुतिः)—

(सृष्टिके आदिमें भगवान्‌ने संकल्प किया कि) 'मैं एक ही बहुत रूपोंमें होऊँ।'

'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिभूत पृथ्वीको धारण करनेवाले और युग-युगमें प्रकट होनेवाले अनन्त रूपधारी (आप) विष्णुभगवान्‌के लिये नमस्कार है।'

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या और आप ही धन हैं, हे देवोंके देव! आप ही मेरे सर्वस्व हैं'॥ ११॥

उक्त प्रकारसे परमात्माकी प्रेमभक्तिमें लगे हुए पुरुषका जब परमात्मामें अतिशय प्रेम हो जाता है, उस कालमें उसको अपने शरीरादिकी भी सुध नहीं रहती; जैसे सुन्दरदासजीने प्रेम-भक्तिका लक्षण करते हुए कहा है—

इन्दव छन्द

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों, तब भूलि गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरै जित ही तित, नेक रही न शरीर सँभारा॥
श्वास उसास उठे सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि पर्‌यौ रस पी मतवारा॥

नाराच छन्द

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी, न देव यक्षतें डरै॥
सुने न कान औरकी, द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात, भक्ति-प्रेम-लच्छना॥

बीजुमाला छन्द

प्रेम अधीनो छाक्यो डोलै, क्योंकी क्योंही वाणी बोलै।

जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा॥

मनहरन छन्द

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे,
पीरकी ओषधि बिनु, कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यों स्वातिबूँद, चन्दको चकोर जैसे,
चन्दनकी चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन ज्यों धन चाहे, कामिनीको कन्त चाहे,
ऐसी जाके चाह ताहि, कछु न सुहात है।
प्रेमको प्रवाह ऐसो, प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुन्दर कहत यह प्रेमहीकी बात है॥

छप्पय छन्द

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै, रोवन फिर लागे।
कबहुँक गद्‌गद कण्ठ, शब्द निकसे नहिं आगे॥
कबहुँक हृदय उमङ्ग, बहुत ऊँचे स्वर गावे।
कबहुँक ह्वै मुख मौन, गगन ऐसे रहि जावे॥
चित्त-वित्त हरिसों लग्यो, सावधान कैसे रहे।
यह प्रेमलक्षणा भक्ति है, शिष्य सुनहु सुन्दर कहै॥ १२॥

सगुण भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर जीवात्मा शुद्ध सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें मग्न हुआ कहता है—

अहो! आनन्द! आनन्द! अति आनन्द! सर्वत्र एक वासुदेव-ही-वासुदेव व्याप्त है*। अहो सर्वत्र एक आनन्द-ही-आनन्द

---

*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता ७। १९)
'[जो] बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

परिपूर्ण है।

कहाँ काम, कहाँ क्रोध, कहाँ लोभ, कहाँ मोह, कहाँ मद, कहाँ मत्सरता, कहाँ मान, कहाँ क्षोभ, कहाँ माया, कहाँ मन, कहाँ बुद्धि, कहाँ इन्द्रियाँ, सर्वत्र एक सच्चिदानन्द-ही-सच्चिदानन्द व्याप्त है। अहो! अहो! सर्वत्र एक सत्यरूप, चेतनरूप, आनन्दरूप, घनरूप, पूर्णरूप, ज्ञानस्वरूप, कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, सनातन, परब्रह्म, परम अक्षर, परिपूर्ण, अनिर्देश्य, नित्य सर्वगत, अचल, ध्रुव, अगोचर, मायातीत, अग्राह्य, आनन्द, परमानन्द, महानन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न कुछ भी नहीं है॥ १३॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः
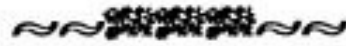
राग भैरवी—ताल रूपक

बन्दौं विष्णु विश्वाधार॥

लोकपति, सुरपति, रमापति, सुभग शान्ताकार॥

कमल-लोचन कलधुहर कल्याण पद-दातार॥

नील नीरद-वर्ण नीरज-नाभ नभ अनुहार॥

भृगुलता-कौस्तुभ सुशोभित हृदय मुक्ताहार॥

शंख चक्र गदा कमलयुत भुज विभूषित चार॥

पीत-पट परिधान पावन अंग अंग उदार॥

शेष शय्या-शयित, योगी-ध्यान-गम्य, अपार॥

दुःखमय भव-भय-हरण, अशरण-शरण अविकार॥
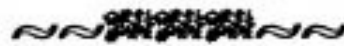
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप

साधक एकान्त और पवित्र स्थानमें कुश या ऊनके आसनपर स्वस्तिक, सिद्ध या पद्मासन आदि किसी आसनसे स्थिर, सीधा और सुखपूर्वक बैठे और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंका त्याग करके स्फुरणासे रहित हो जाय। पश्चात् आलस्यरहित और वैराग्ययुक्त पवित्र चित्तसे अपने इष्टदेव भगवान्‌का आह्वान करे। यह खयाल रखना चाहिये कि जब ध्यानावस्थामें भगवान् आते हैं तब चित्तमें बड़ी प्रसन्नता, शान्ति, ज्ञानकी दीप्ति एवं सारे भूमण्डलमें महाप्रकाश नेत्रोंको बंद करनेपर प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है। जहाँ शान्ति है, वहाँ विक्षेप नहीं होता और जहाँ ज्ञानकी दीप्ति होती है, वहाँ निद्रा-आलस्य नहीं आते। और यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्‌से स्तुति और प्रार्थना करनेपर ध्यानावस्थामें भगवान् आते हैं। अपने इष्टदेवके साकाररूपका ध्यान करनेमें कोई कठिनाई भी नहीं है। यदि कहो कि देखी हुई चीजका ध्यान होना सहज है, बिना देखी हुई चीजका ध्यान कैसे हो सकता है? सो ठीक है; किन्तु शास्त्र और महात्माओंके वचनोंके आधारपर तथा अपने इष्टदेवके रुचिकर चित्रके आधारपर भी ध्यान हो सकता है। इसलिये साधकको उचित है कि नेत्रोंको मूँदकर अपने इष्टदेव परमेश्वरका आह्वान करे और साधारण आह्वान करनेसे न आनेपर उनके नाम और गुणोंका कीर्तन एवं दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा स्तुति और प्रार्थना करते हुए श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करुणाभावसे गद्‌गद होकर भगवान्‌का पुनः-पुनः आह्वान करे और भगवान्‌के आनेकी आशा और प्रतीक्षा रखते हुए इस चौपाईका उच्चारण करे—

एक बात मैं पूछहु तोही। कारन कवन बिसारेहु मोही॥

फिर यह विश्वास करना चाहिये कि हमारे इष्टदेव भगवान् आकाशमें हमारे सम्मुख करीब दो फीटकी दूरीपर प्रत्यक्ष ही खड़े

हैं। तत्पश्चात् चरणोंसे लेकर मस्तकतक उस दिव्य मूर्तिका अवलोकन करते हुए यह चौपाई पढ़नी चाहिये—

नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥

हे नाथ! मैं तो सम्पूर्ण साधनोंसे हीन हूँ, आपने मुझे दीन जानकर दया की है अर्थात् मैंने तो कोई भी ऐसा साधन नहीं किया कि जिसके बलपर ध्यानमें भी आपके दर्शन हो सकें। किन्तु आपने मुझे दीन जानकर ही ध्यानमें दर्शन दिये हैं। इस प्रकार भगवान्‌के आ जानेपर साधक ध्यानावस्थामें भगवान्‌से वार्तालाप करना आरम्भ करता है।

साधक—प्रभो! आप ध्यानावस्थामें भी प्रकट होनेमें इतना विलम्ब क्यों करते हैं? पुकारनेके साथ ही आप क्यों नहीं आ जाते? इतना तरसाते क्यों हैं?

भगवान्—तरसानेमें ही तुम्हारा परम हित है।

सा०—तरसानेमें क्या हित है, मैं नहीं समझता। मैं तो आपके पधारनेमें ही हित समझता हूँ।

भ०— विलम्बसे आनेमें विशेष लाभ होता है। विरहव्याकुलता होती है, उत्कट इच्छा होती है, उस समय आनेमें विशेष आनन्द होता है। जैसे विशेष क्षुधा लगनेपर अन्न अमृतके समान लगता है।

सा०—ठीक है, किन्तु विशेष विलम्बसे आनेपर निराश होकर साधक ध्यान छोड़ भी तो सकता है।

भ०—यदि मुझपर इतना ही विश्वास नहीं है और मेरे आनेमें विलम्ब होनेके कारण जो साधक उकताकर ध्यान छोड़ सकता है, उसको दर्शन देकर ही क्या होगा।

सा०—ठीक है, किन्तु आपके आनेसे आपमें रुचि तो बढ़ेगी ही और उससे साधन भी तेज होगा, इसलिये आपको पुकारनेके साथ ही पधारना उचित है।

भ०—उचित तो वही है जो मैं समझता हूँ और मैं वही करता हूँ, जो उचित होता है।

सा०—प्रभो ! मुझे वैसा ही मानना चाहिये जैसा आप कहते हैं, किन्तु मन बड़ा पाजी है; वह मानने नहीं देता। आप कहते हैं वही बात सही है, फिर भी मुझे तो यही प्रिय लगता है कि मैं बुलाऊँ और तुरंत आप आ जायँ। यह बतलाइये वह कौन-सी पुकार है जिस एक ही पुकारके साथ आप आ सकते हैं ?

भ०—गोपियोंकी भाँति जब साधक मेरे ही लिये विरहसे तड़पता है तब वैसे आ सकता हूँ या मुझमें प्रेम और विश्वास करके द्रौपदी और गजेन्द्रकी भाँति जब आतुरतासे व्याकुल होकर पुकारता है तब आ सकता हूँ। अथवा प्रह्लादके सदृश निष्कामभावसे भजनेवालेके लिये बिना बुलाये भी आ सकता हूँ।

सा०—विरहसे व्याकुल करके आते हैं यह आपकी कैसी आदत है ? आप विरहकी वेदना देकर क्यों तड़पाते हैं ?

भ०—विरहजनित व्याकुलताकी तो बड़े ऊँचे दर्जेकी स्थिति है। विरहव्याकुलतासे प्रेमकी वृद्धि होती है, फिर भक्त क्षणभरका भी वियोग सहन नहीं कर सकता। उसको सदाके लिये मेरी प्राप्ति हो जाती है। एक दफा मिलनेके बाद फिर कभी छोड़ता ही नहीं। जैसे भरत चौदह सालतक विरहसे व्याकुल रहा, फिर मेरा साथ उसने कभी नहीं छोड़ा।

सा०—आपको कभी कार्य होता तो आप प्रायः लक्ष्मण और शत्रुघ्नको ही सुपुर्द करते, भरतको नहीं; इसका क्या कारण था ?

भ०—प्रेमकी अधिकताके कारण भरत मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता था।

सा०—फिर उन्होंने चौदह सालतक वियोग कैसे सहन किया ?

भ०—मेरी आज्ञासे बाध्य होकर उसको वियोग सहन करना पड़ा और उसी विरहसे प्रेमकी इतनी वृद्धि हुई कि फिर उसका मुझसे कभी वियोग नहीं हुआ।

सा०—पर उस विरहमें आपने भरतका क्या हित सोचा ?

भ०—चौदह सालका विरह सहन करनेसे वह विरह और मिलनके तत्त्वोंको जान गया। फिर एक क्षणभरका वियोग भी उसको एक युगके समान प्रतीत होने लगा। यदि ऐसा नहीं होता तो मेरी ओर इतना आकर्षण कैसे होता ?

सा०—विरहकी व्याकुलतासे निराशा भी तो हो सकती है?

भ०—कह ही चुका हूँ कि ऐसे पुरुषोंके लिये फिर दर्शन देनेकी आवश्यकता ही क्या है ?

सा०—फिर ऐसे पुरुषोंको आपके दर्शनके लिये क्या करना चाहिये ?

भ०—जिस किस प्रकारसे मुझमें श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि हो, ऐसी कोशिश करनी चाहिये।

सा०—क्या बिना श्रद्धा और प्रेमके दर्शन हो ही नहीं सकते?

भ०—हाँ, नहीं हो सकते, यही नीति है।

सा०—क्या आप रियायत नहीं कर सकते ?

भ०—किसीपर रियायत की जाय और किसीपर नहीं की जाय तो विषमताका दोष आता है। सबपर रियायत हो नहीं सकती।

सा०—क्या ऐसी रियायत कभी हो भी सकती है ?

भ०—हाँ, अन्तकालके लिये ऐसी रियायत है। उस समय बिना श्रद्धा और प्रेमके भी केवल मेरा स्मरण करनेसे ही मेरी प्राप्ति हो जाती है।

सा०—फिर उसके लिये भी यह विशेष रियायत क्यों रखी गयी?

भ०—उसका जीवन समाप्त हो रहा है। सदाके वास्ते वह इस मनुष्य-शरीरको त्यागकर जा रहा है। इसलिये उसके वास्ते यह खास रियायत रखी गयी है।

सा०—यह तो उचित ही है कि अन्तकालके लिये यह विशेष

रियायत रखी गयी है। किन्तु अन्त समयमें मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अपने काबूमें नहीं रहते; अतएव उस समय आपका स्मरण करना भी वशकी बात नहीं है।

भ०—इसके लिये सर्वदा मेरा स्मरण रखनेका अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा अभ्यास करेगा उसको मेरी स्मृति अवश्य होगी।

सा०—आपकी स्मृति मुझे सदा बनी रहे इसके लिये मैं इच्छा रखता हूँ और कोशिश करता हूँ, किन्तु चञ्चल और उद्दण्ड मनके आगे मेरी कोशिश चलती नहीं। इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

भ०—जहाँ-जहाँ तुम्हारा मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसको लौटाकर प्रेमसे समझाकर मुझमें पुनः-पुनः लगाना चाहिये अथवा मुझको सब जगह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ ही मेरा चिन्तन करना चाहिये।

सा०—यह बात मैंने सुनी है, पढ़ी है और मैं समझता भी हूँ; किन्तु उस समय यह युक्ति मुझे याद नहीं रहती, इस कारण आपका स्मरण नहीं कर सकता।

भ०—आसक्तिके कारण यह तुम्हारी बुरी आदत पड़ी हुई है तथा आसक्तिका नाश और आदत सुधारनेके लिये महापुरुषोंका सङ्ग तथा नामजपका अभ्यास करना चाहिये।

सा०—यह तो यत्किञ्चित् किया भी जाता है और उससे लाभ भी होता है; किन्तु मेरे दुर्भाग्यसे यह भी तो हर समय नहीं होता।

भ०—इसमें दुर्भाग्यकी कौन बात है ? इसमें तो तुम्हारी ही कोशिशकी कमी है।

सा०—प्रभो ! क्या भजन और सत्सङ्ग कोशिशसे होते हैं ? सुना है कि सत्सङ्ग पूर्वपुण्य इकट्ठे होनेपर ही होता है।

भ०—मेरा और सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर भजनकी जो

कोशिश होती है वह अवश्य सफल होती है। उसमें कुसङ्ग, आसक्ति और सञ्चित बाधा तो डालते हैं; किन्तु इसके तीव्र अभ्याससे सब बाधाओंका नाश हो जाता है और उत्तरोत्तर साधनकी उन्नति होकर श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है और फिर विघ्न-बाधाएँ नजदीक भी नहीं आ सकतीं। प्रारब्ध केवल पूर्वजन्मके किये हुए कर्मोंके अनुसार भोग प्राप्त कराता है, वह नवीन शुभ कर्मोंके होनेमें बाधा नहीं डाल सकता। जो बाधा प्राप्त होती है वह साधककी कमजोरीसे होती है। पूर्वसञ्चित पुण्योंके सिवा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक कोशिश करनेपर भी मेरी कृपासे सत्सङ्ग मिल सकता है।

सा०—प्रभो! बहुत-से लोग सत्सङ्ग करनेकी कोशिश करते हैं, पर जब सत्सङ्ग नहीं मिलता तो भाग्यकी निन्दा करने लग जाते हैं। क्या यह ठीक है?

भ०—ठीक है, किन्तु उसमें धोखा हो सकता है। साधनमें ढीलापन आ जाता है। जितना प्रयत्न करना चाहिये उतना करनेपर यदि सत्सङ्ग न हो तो ऐसा माना जा सकता है, परंतु इस विषयमें प्रारब्धकी निन्दा न करके अपनेमें श्रद्धा और प्रेमकी जो कमी है उसीकी निन्दा करनी चाहिये; क्योंकि श्रद्धा और प्रेमसे नया प्रारब्ध बनकर भी परम कल्याणकारक सत्सङ्ग मिल सकता है।

सा०—प्रभो! आप सत्सङ्गकी इतनी महिमा क्यों करते हैं?

भ०—बिना सत्सङ्गके न तो भजन, ध्यान, सेवादिका साधन ही होता है और न मुझमें अनन्य प्रेम ही हो सकता है। इसके बिना मेरी प्राप्ति होनी कठिन है। इसीसे मैं सत्सङ्गकी इतनी महिमा करता हूँ।

सा०—प्रभो! बतलाइये, सत्सङ्गके लिये क्या उपाय किया जाय?

भ०—पहले मैं इसका उपाय बतला ही चुका हूँ कि श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सत्सङ्गके लिये कोशिश करनेपर मेरी कृपासे सत्सङ्ग मिल सकता है।

सा०—अब मैं सत्सङ्गके लिये और भी विशेष कोशिश

करूँगा। आपसे भी मैं निष्काम प्रेमभावसे भजन-ध्यान निरन्तर होनेके लिए मदद माँगता हूँ।

भ०—तुम अपनी बुद्धिके अनुसार ठीक माँग रहे हो, किन्तु वह तुम्हारे मनको उतना अच्छा नहीं लगता जितने कि विषयभोग लगते हैं।

सा०—हाँ! बुद्धिसे तो मैं चाहता हूँ, पर मन बड़ा ही पाजी है; इससे रुचि कम होनेके कारण उसको भजन-ध्यान अच्छा न लगे तो उसके आगे मैं लाचार हूँ। इसलिये ही आपको विशेष मदद करनी चाहिये।

भ०—मनकी भजन-ध्यानकी ओर कम रुचि हो तो भी यही कोशिश करते रहो कि वह भजन-ध्यानमें लगा रहे। धीरे-धीरे उसमें रुचि होकर भजन-ध्यान ठीक हो सकता है।

सा०—मैं शक्तिके अनुसार कोशिश करता रहा हूँ, किन्तु अभीतक सन्तोषजनक काम नहीं बना। इसीसे उत्साह भङ्ग-सा होता है। यही विश्वास है कि आपकी दयासे ही यह काम हो सकता है। अतएव आपको विशेष दया करनी चाहिये।

भ०—उत्साहहीन नहीं होना चाहिये। मेरे ऊपर भार डालनेसे सब कुछ हो सकता है। यह तो ठीक है, किन्तु मेरी आज्ञाके अनुसार कटिबद्ध होकर चलनेकी भी तो तुम्हें कोशिश करनी ही चाहिये। ऐसा मत मानो कि हमने सब कोशिश कर ली है, अभी कोशिश करनेमें बहुत कमी है। तुम्हारी शक्तिके अनुसार अभी कोशिश नहीं हुई है। इसलिये खूब तत्परतासे कोशिश करनी चाहिये।

सा०—आपका आश्रय लेकर और कोशिश करनेकी चेष्टा करूँगा; किन्तु काम तो आपकी दयासे ही होगा।

भ०—यह तो तुम्हारे प्रेमकी बात है कि तुम मुझपर विश्वास रखते हो; किन्तु सावधान रहना कि भूलसे कहीं हरामीपन न आ जाय। मैं कहता हूँ कि तुम्हें उत्साह बढ़ाना चाहिये। जब मेरा यह

कहना है तो तुम्हारे उत्साहमें कमी होनेका कोई भी कारण नहीं है। केवल मन ही तुम्हें धोखा दे रहा है। उत्साह-भङ्गकी बात मनमें आने ही मत दो, हमेशा उत्साह रखो।

सा०—शान्ति और प्रसन्नता न मिलनेपर मेरा उत्साह ढीला पड़ जाता है।

भ०—जब तुम मुझपर भरोसा रखते हो तो फिर कार्यकी सफलताकी ओर क्यों ध्यान देते हो? वह भी तो कामना ही है।

सा०—कामना तो है, किन्तु वह है तो केवल भजन-ध्यानकी वृद्धिके लिये ही।

भ०—जब तुम हमारी शरण आ गये हो तो भजन-ध्यानकी वृद्धिके लिये शान्ति और प्रसन्नताकी तुम्हें चिन्ता क्यों है? तुम्हें तो मेरे आज्ञापालनपर ही विशेष ध्यान रखना चाहिये। कार्यके फलपर नहीं।

सा०—कार्य सफल न होनेसे उत्साह-भङ्ग होगा और उत्साह-भङ्ग होनेसे भजन-ध्यान नहीं बनेगा।

भ०—यह तो ठीक है, किन्तु सफलताकी कमी देखकर भी उत्साहमें कमी नहीं होनी चाहिये। मुझपर विश्वास करके उत्तरोत्तर मेरी आज्ञासे उत्साह बढ़ाना चाहिये।

सा०—यह बात तो ठीक और युक्तिसंगत है, किन्तु फिर भी शान्ति और प्रसन्नता न मिलनेपर उत्साहमें कमी आ ही जाती है।

भ०—ऐसा होता है तो तुमने फिर मेरी बातपर कहाँ ध्यान दिया? इसमें तो केवल तुम्हारे मनका धोखा ही है।

सा०—भगवन्! क्या इसमें मेरे सञ्चित पाप कारण नहीं हैं? क्या वे मेरे उत्साहमें बाधा नहीं डाल रहे हैं?

भ०—मेरी शरण हो जानेपर पाप रहते ही नहीं।

सा०—यह मैं जानता हूँ, किन्तु मैं वास्तवमें आपकी पूर्णतया शरण कहाँ हुआ हूँ? अभीतक तो केवल वचनमात्रसे ही मैं

आपकी शरण हूँ।

भ०—वचनमात्रसे भी जो एक बार मेरी शरण आ जाता है उसका भी मैं परित्याग नहीं करता। किन्तु तुम्हें तो तुम्हारा जैसा भाव है उसके अनुसार मेरे शरण होनेके लिये खूब कोशिश करनी चाहिये।

सा०—कोशिश तो खूब करता हूँ, किन्तु मनके आगे मेरी कुछ चलती नहीं।

भ०—खूब कोशिश करता हूँ, यह मानना गलत है। कोशिश थोड़ी करते हो और उसको मान बहुत लेते हो।

सा०—इसके सुधारके लिये मैं विशेष कोशिश करूँगा, किन्तु शरीरमें और सांसारिक विषयोंमें आसक्ति रहने तथा मन चञ्चल होनेके कारण आपकी दया बिना पूर्णतया शरण होना बहुत कठिन प्रतीत होता है।

भ०—कठिन मानते हो, इसीलिये कठिन प्रतीत हो रहा है। वास्तवमें कठिन नहीं है।

सा०—कठिन कैसे नहीं मानूँ? मुझे तो ऐसा प्रत्यक्ष मालूम होता है।

भ०—ठीक मालूम हो तो होता रहे, किन्तु तुम्हें हमारी बातकी ओर ही ध्यान देना चाहिये।

सा०—आजसे मैं आपकी दयापर भरोसा रखकर कोशिश करूँगा, जिससे वह मुझे कठिन भी मालूम न पड़े। किन्तु सुना है कि आपके थोड़े-से भी नाम-जप तथा ध्यानसे सब पापोंका नाश हो जाता है। शास्त्र और आप भी ऐसा ही कहते हैं, फिर वृत्तियाँ मलिन होनेका क्या कारण है? थोड़ा-सा भजन-ध्यान तो मेरे द्वारा भी होता ही होगा।

भ०—भजन-ध्यानसे सब पापोंका नाश होता है यह सत्य है, किन्तु इसमें कोई विश्वास करे तब न। तुम्हारा भी तो इसमें पूरा विश्वास नहीं है, क्योंकि तुम मान रहे हो कि पापोंका नाश नहीं

हुआ। वे अभी वैसे ही पड़े हैं।

सा०—विश्वास न होनेमें क्या कारण है?

भ०—नीच* और नास्तिकोंका† सङ्ग, सञ्चित पाप और दुर्गुण।

सा०—पाप और दुर्गुण क्या अलग-अलग वस्तु हैं?

भ०—चोरी, जारी, झूठ, हिंसा और दम्भ-पाखण्ड आदि पाप हैं तथा राग, द्वेष, काम, क्रोध, दर्प और अहङ्कार आदि दुर्गुण हैं।

सा०—इन सबका नाश कैसे हो?

भ०—इनके नाशके लिये निष्कामभावसे भजन, ध्यान, सेवा और सत्सङ्ग आदि करना ही सबसे बढ़कर उपाय है।

सा०—सुना है कि वैराग्य होनेसे भी राग-द्वेषादि दोषोंका नाश हो जाता है और उससे भजन-ध्यानका साधन भी अच्छा होता है।

भ०—ठीक है, वैराग्यसे भजन-ध्यानका साधन बढ़ता है। किन्तु अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना दृढ़ वैराग्य भी तो नहीं होता। यदि कहो कि शरीर और सांसारिक भोगोंमें दुःख और दोष-बुद्धि करनेसे भी वैराग्य हो सकता है, सो ठीक है। पर यह वृत्ति भी उपर्युक्त साधनोंसे ही होती है। अतएव भजन, ध्यान, सेवा और सत्सङ्ग आदि करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

× × ×

सा०—भगवन्! अब यह बतलाइये कि आप प्रत्यक्ष दर्शन कब देंगे?

भ०—इसके लिये तुम चिन्ता क्यों करते हो? जब हम ठीक समझेंगे उसी वक्त दे देंगे। वैद्य जब ठीक समझता है तब आप ही सोचकर रोगीको अन्न देता है। रोगीको तो वैद्यपर ही निर्भर रहना चाहिये।

सा०—आपका कथन ठीक है। किन्तु रोगीको भूख लगती

---

*झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि शास्त्रविपरीत कर्म करनेवालेको नीच कहते हैं।

†ईश्वरको तथा श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रको न माननेवालेको नास्तिक कहते हैं।

है तो वह 'मुझे अन्न कब मिलेगा' ऐसा कहता ही है। जो अन्नके वास्ते आतुर होता है वह तो पूछता ही रहता है।

भ०—वैद्य जानता है कि रोगीकी भूख सच्ची है या झूठी। भूख देखकर भी यदि वैद्य रोगीको अन्न नहीं देता तो उस न देनेमें भी उसका हित ही है।

सा०—ठीक है, किन्तु आपके दर्शन न देनेमें क्या हित है, यह मैं नहीं समझता। मुझे तो दर्शन देनेमें ही हित दीखता है। रोटीसे तो नुकसान भी हो सकता है, किन्तु आपके दर्शनसे कभी नुकसान नहीं हो सकता, बल्कि परम लाभ होता है। इसलिये आपका मिलना रोटी मिलनेके सदृश नहीं है।

भ०—वैद्यको जब जिस चीजके देनेसे सुधार होना मालूम पड़ता है उसीको उचित समयपर वह रोगीको देता है। इसमें तो रोगीको वैद्यपर ही निर्भर रहना चाहिये। वैद्य सच्ची भूख समझकर रोगीको रोटी देता है और उससे नुकसान भी नहीं होता। यद्यपि मेरा मिलना परम लाभदायक है, किन्तु मुझमें पूर्ण प्रेम और श्रद्धारूप सच्ची भूखके बिना मेरा दर्शन हो नहीं सकता।

सा०—श्रद्धा और प्रेमकी तो मुझमें बहुत ही कमी है और मुझे उसकी पूर्ति होनी भी बहुत कठिन प्रतीत होती है। अतएव मेरे लिये तो आपके दर्शन असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य जरूर ही हैं।

भ०—ऐसा मानना तुम्हारी बड़ी भूल है, ऐसा माननेसे ही तो दर्शन होनेमें विलम्ब होता है।

सा०—नहीं मानूँ तो क्या करूँ? कैसे न मानूँ? पूर्ण श्रद्धा और प्रेमके बिना तो दर्शन हो नहीं सकते और उनकी मुझमें बहुत ही कमी है।

भ०—क्या कमीकी पूर्ति नहीं हो सकती?

सा०—हो सकती है, किन्तु जिस तरहसे होती आयी है, यदि उसी तरहसे होती रही तो इस जन्ममें तो इस कमीकी पूर्ति होनी

सम्भव नहीं।

भ०—ऐसा सोचकर तुम स्वंयं ही अपने मार्गमें क्यों रुकावट डालते हो? क्या सौ बरसका कार्य एक मिनटमें नहीं हो सकता?

सा०—हाँ, आपकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

भ०—फिर यह हिसाब क्यों लगा लिया कि इस जन्ममें अब सम्भव नहीं?

सा०—यह मेरी मूर्खता है, पर अब आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे आपमें शीघ्र ही पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो जाय।

भ०—क्या मुझमें तुम्हारी पूर्ण श्रद्धा और प्रेम होना मैं नहीं चाहता? क्या मैं इसमें बाधा डालता हूँ?

सा०—इसमें बाधा डालनेकी तो बात ही क्या है? आप तो मदद ही करते हैं। किन्तु श्रद्धा और प्रेमकी पूर्तिमें विलम्ब हो रहा है, इसलिये प्रार्थना की जाती है।

भ०—ठीक है। किन्तु पूर्ण प्रेम और श्रद्धाकी जो कमी है, उसकी पूर्ति करनेके लिये मेरा आश्रय लेकर खूब प्रयत्न करना चाहिये।

सा०—भगवन्! मैंने सुना है कि रोनेसे भी उसकी पूर्ति होती है। क्या यह ठीक है?

भ०—वह रोना दूसरा है।

सा०—दूसरा कौन-सा और कैसा?

भ०—वह रोना हृदयसे होता है; जैसे कि कोई आर्त-दु:खी आदमी दु:खनिवृत्तिके लिये सच्चे हृदयसे रोता है।

सा०—ठीक है। चाहता तो वैसा ही हूँ, किन्तु सब समय वैसा रोना आता नहीं।

भ०—इससे यह निश्चित होता है कि बुद्धिके विचारद्वारा तो तुम रोना चाहते हो, किन्तु तुम्हारा मन नहीं चाहता।

सा०—भगवन्! यदि मन ही चाहने लगे तो फिर आपसे प्रार्थना ही क्यों करूँ? मन नहीं चाहता, इसीलिये तो आपकी मदद चाहता हूँ।

भ०—मेरी आज्ञाओंके पालन करनेमें तत्पर रहनेसे ही मेरी पूरी मदद मिलती है। यह विश्वास रखो कि इसमें तत्पर होनेसे कठिन-से-कठिन भी काम सहजमें हो सकता है।

सा०—भगवन्! आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा, किन्तु होगा सब आपकी कृपासे ही। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। इसलिये आपकी यह आज्ञा मानकर अब विशेषरूपसे कोशिश करूँगा, मुझे निमित्त बनाकर जो कुछ करा लेना है, सो करा लीजिये।

भ०—ऐसा मान लेनेसे तुम्हारेमें कहीं हरामीपन (कमकसपना) न आ जाय!

सा०—भगवन्! क्या आपसे मदद माँगना भी हरामीपन (कमकसपना) है?

भ०—मदद तो माँगता रहे, किन्तु काम करनेसे जो चुराता रहे और आज्ञापालन करे नहीं, इसीका नाम हरामीपन (कमकसपना) है। जो कुछ मैंने बतलाया है, मुझमें चित्त लगाकर वैसा ही करते रहो। आगे-पीछेका कुछ भी चिन्तन मत करो। जो कुछ हो प्रसन्नतापूर्वक देखते रहो। इसीका नाम शरणागति है। विश्वास रखो कि इस प्रकार शरण होनेसे सब कार्योंकी सिद्धि हो सकती है।

सा०—विश्वास तो करता हूँ, किन्तु आतुरताके कारण भूल हो जाती है और परमशान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य चला ही जाता है।

भ०—जैसे कार्यके फलकी ओर देखते हो, वैसे कार्यकी तरफ क्यों नहीं देखते? मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे ही मेरेमें श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होकर मेरी प्राप्ति होती है।

सा०—किन्तु प्रभो! आपमें श्रद्धा और प्रेमके हुए बिना आज्ञाका पालन भी तो नहीं हो सकता।

भ०—जितनी श्रद्धा और प्रेमसे मेरी आज्ञाका पालन हो सके, उतनी श्रद्धा और प्रेम तो तुममें है ही।

सा०—फिर आपकी आज्ञाका अक्षरशः पालन न होनेमें क्या

कारण है?

भ०—सञ्चित पाप एवं राग, द्वेष, काम, क्रोधादि दुर्गुण ही बाधा डालनेमें हेतु हैं।

सा०—इनका नाश कैसे हो?

भ०—यह तो पहले ही बतला चुका हूँ, भजन, ध्यान, सेवा सत्सङ्ग आदि साधनोंसे होगा।

सा०—इसके लिये अब और भी विशेषरूपसे कोशिश करनेकी चेष्टा करूँगा; किन्तु यह भी तो आपकी मददसे ही होगा।

भ०—मदद तो मुझसे जितनी चाहो उतनी ही मिल सकती है।

× × ×

सा०—प्रभो! कोई-कोई कहते हैं कि प्रभुके प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञानचक्षुसे ही होते है, चर्मचक्षुसे नहीं—सो क्या बात है?

भ०—उनका कहना ठीक नहीं है। भक्त जिस प्रकार मेरा दर्शन चाहता है, उसको मैं उसी प्रकार दर्शन दे सकता हूँ।

सा०—आपका विग्रह तो दिव्य है, फिर चर्मचक्षुसे उसके दर्शन कैसे हो सकते हैं?

भ०—मेरे अनुग्रहसे। मैं उसको ऐसी शक्ति प्रदान कर देता हूँ, जिसके आश्रयसे वह चर्मचक्षुके द्वारा भी मेरे दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकता है।

सा०—जहाँ आप दिव्य साकारस्वरूपसे प्रकट होते हैं, वहाँ जितने मनुष्य रहते हैं उन सबको आपके दर्शन होते हैं या उनमेंसे किसी एक-दोको?

भ०—मैं जैसा चाहता हूँ वैसा ही हो सकता है।

सा०—चर्मदृष्टि तो सबकी ही समान है, फिर किसीको दर्शन होते हैं और किसीको नहीं, यह कैसे?

भ०—इसमें कोई आश्चर्य नहीं। एक योगी भी अपनी योगशक्तिसे ऐसा काम कर सकता है कि बहुतोंके सामने प्रकट

होकर भी किसीके दृष्टिगोचर हो और किसीके नहीं।

सा०—जब आप सबके दृष्टिगोचर होते हैं तब सबको एक ही प्रकारसे दीखते हैं या भिन्न-भिन्न प्रकारसे?

भ०—एक प्रकारसे भी दीख सकता हूँ और भिन्न-भिन्न प्रकारसे भी। जो जैसा पात्र होता है अर्थात् मुझमें जिसकी जैसी भावना, प्रीति और श्रद्धा होती है उसको मैं उसी प्रकार दिखायी देता हूँ।

सा०—आपके प्रत्यक्ष प्रकट होनेपर भी दर्शकोंमें श्रद्धाकी कमी क्यों रह जाती है? उदाहरण देकर समझाइये।

भ०—मैं श्रद्धाकी कमी और अभाव होते हुए भी सबके सामने प्रकट हो सकता हूँ और प्रकट होनेपर भी श्रद्धाकी कमी-बेशी रह सकती है; जैसे दुर्योधनकी सभामें मैं विराट्-स्वरूपसे प्रकट हुआ और अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार दीख पड़ा और बहुत लोग मुझे देख भी नहीं सके।

सा०—जब आप प्रत्यक्ष अवतार लेते हैं तब तो सबको समान-भावसे दीखते होंगे?

भ०—अवतारके समय भी जिसकी जैसी भावना रहती है, उसी प्रकार उसको दीखता हूँ।*

सा०—बहुत-से लोग कहते हैं कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा साकाररूपसे भक्तके सामने प्रकट नहीं हो सकते। लोगोंको अपनी भावना ही अपने-अपने इष्टदेवके साकाररूपमें दीखने लगती है।

भ०—वे सब भूलसे कहते हैं। वे मेरे सगुणस्वरूपके रहस्यको नहीं जानते। मैं स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी योगशक्तिसे दिव्य सगुण-साकाररूपमें भक्तोंके लिये प्रकट होता हूँ। हाँ, साधनकालमें किसी-किसीको भावनासे ही मेरे दर्शनोंकी प्रतीति भी हो जाती है, किन्तु वास्तवमें वे मेरे दर्शन नहीं समझे जाते।

सा०—साधक कैसे समझे कि दर्शन प्रत्यक्ष हुए या मनकी

---

*जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

भावना ही है?

भ०—प्रत्यक्ष और भावनामें तो रात-दिनका-सा अन्तर है। जब मेरा प्रत्यक्ष दर्शन होता है तो उसमें भक्तोंके सब लक्षण घटने लग जाते हैं और उस समयकी सारी घटनाएँ भी प्रमाणित होती हैं, जैसे ध्रुवको मेरे प्रत्यक्ष दर्शन हुए और शङ्ख छुआनेसे बिना पढ़े ही उसे सब शास्त्रोंका ज्ञान हो गया। प्रह्लादके लिये मैं प्रत्यक्ष प्रकट हुआ और हिरण्यकशिपुका नाश कर डाला। ऐसी घटनाएँ भावनामात्र नहीं समझी जा सकतीं। किन्तु जो भावनासे मेरे स्वरूपकी प्रतीति होती है, उसकी घटनाएँ इस प्रकार प्रमाणित नहीं होतीं।

सा०—कितने ही कहते हैं कि भगवान् तो सर्वव्यापी हैं फिर वे एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं? ऐसा होनेपर क्या आपके सर्वव्यापीपनमें दोष नहीं आता?

भ०—नहीं, जैसे अग्नि सर्वव्यापी है। कोई अग्निके इच्छुक अग्निको साधनद्वारा किसी एक देशमें या एक साथ अनेक देशोंमें प्रज्वलित करते हैं तो वे अग्निदेव सब देशोंमें मौजूद रहते हुए ही अपनी सर्वशक्तिको लेकर एक देशमें या अनेक देशोंमें प्रकट होते हैं और मैं तो अग्निसे भी बढ़कर व्याप्त और अपरिमित शक्तिशाली हूँ, फिर मुझ सर्वव्यापीके लिये सब जगह स्थित रहते हुए ही एक साथ एक या अनेक जगह सर्वशक्तिसे प्रकट होनेमें क्या आश्चर्य है।

सा०—आप निर्गुण-निराकार होते हुए दिव्य सगुण-साकाररूपसे कैसे प्रकट होते हैं?

भ०—निर्मल आकाशमें भी परमाणुरूपमें जल रहता है, वही जल बूँदोंके रूपमें आकर बरसता है और फिर वही उससे भी स्थूल बर्फ और ओलेके रूपमें भी आ जाता है। वैसे ही मैं सत् और असत्से परे होनेपर भी दिव्य ज्ञानके रूपमें शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा जाननेमें आता हूँ। तदनन्तर मैं नित्य विज्ञानानन्द

हुआ ही अपनी योगशक्तिसे जब दिव्य प्रकाशके रूपमें प्रकट होता हूँ तब ज्योतिर्मयरूपसे योगियोंको हृदयमें दर्शन देता हूँ और फिर दिव्य प्रकाशरूप हुआ ही मैं दिव्य सगुण-साकाररूपमें प्रकट होकर भक्तको प्रत्यक्ष दीखता हूँ। जैसे सूर्य प्रकट होकर सबके नेत्रोंको अपना प्रकाश देकर अपना दर्शन देता है।

सा०—कोई-कोई कहते हैं कि जल तो जड है, उसमें इस प्रकारका विकार हो सकता है; किन्तु निर्विकार चेतनमें यह सम्भव नहीं।

भ०—मुझ निर्विकार चेतनमें यह विकार नहीं है। यह तो मेरी शक्तिका प्रभाव है। मैं तो असम्भवको भी सम्भव कर सकता हूँ। मेरे लिये कुछ भी अशक्य नहीं है।

सा०—अच्छा, यह बतलाइये कि आपके साक्षात् दर्शन होनेके लिये सबसे बढ़कर क्या उपाय है?

भ०—मुझमें अनन्य भक्ति अर्थात् मेरी अनन्य शरणागति।

सा०—अनन्य भक्तिद्वारा किन-किन लक्षणोंसे युक्त होनेपर आप मिलते हैं?

भ०—दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंसे युक्त होनेपर (गीता १६। १ से ३ तक)।

सा०—दैवी सम्पत्तिके सब लक्षण आनेपर ही आप मिलते हैं या पहले भी?

भ०—यह कोई खास नियम नहीं है कि दैवी सम्पत्तिके सब गुण होने ही चाहिये; किन्तु अनन्य भक्ति अवश्य होनी चाहिये।

सा०—दैवी सम्पत्तिके गुण कम होनेपर भी आप केवल अनन्य भक्तिसे मिलते हैं तो फिर मिलनेके बाद दैवी सम्पत्तिके सब लक्षण आ जाते होंगे?

भ०—दैवी सम्पत्तिके लक्षण ही क्या और भी विशेष गुण आ जाते हैं।

सा०—वे विशेष गुण कौन-कौन-से हैं?

भ०—समता आदि (गीता १२। १३ से २० तक)।

सा०—वे लक्षण आपकी प्राप्ति होनेके पीछे ही आते हैं या पहले भी?

भ०—पहले भी कुछ आ जाते हैं, किन्तु मेरी प्राप्ति होनेके बाद तो आ ही जाते हैं।

सा०—आपकी प्राप्तिके लिये भक्तका क्या कर्तव्य है?

भ०—यह तो बतला ही चुका कि केवल मेरी सब प्रकारसे शरण होना।

सा०—शरणमें भी आप स्वयं क्यों नहीं ले लेते?

भ०—किसीको जबरदस्ती शरणमें ले लेना मेरा कर्तव्य नहीं है, शरण होना तो भक्तका कर्तव्य है।

सा०—इस विषयमें विवेक-विचारसे जो शरण होना चाहता है उसको आप मदद देते हैं या नहीं?

भ०—जो सरल चित्तसे मदद माँगता है, उसको अवश्य देता हूँ।

सा०—जो आपकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे आपकी शरण होना चाहता है, उसके साधनमें ऋद्धि, सिद्धि, देवता आदि विघ्न डाल सकते हैं या नहीं?

भ०—कोई भी विघ्न नहीं डाल सकते।

सा०—देखनेमें तो आता है कि आपकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ता है और उससे साधनमें रुकावटें भी पड़ जाती हैं।

भ०—वे सब प्रकारसे मेरी शरण नहीं हैं।

सा०—आपको प्राप्त होनेके बाद अणिमादि सिद्धियाँ भी उसमें आ जाती हैं क्या?

भ०—भक्तको इनकी आवश्यकता ही नहीं है।

सा०—यदि भक्त इच्छा करे तो भी ये प्राप्त हो सकती हैं या नहीं?

भ०—मेरा भक्त इन सबकी इच्छा करता ही नहीं और करे तो वह मेरा अनन्य भक्त ही नहीं।

सा०—आपकी प्राप्ति होनेके बाद आपके भक्तका क्या अधिकार होता है?

भ०—वह अपना कुछ भी अधिकार नहीं मानता है और न चाहता ही है।

सा०—उसके न चाहनेपर भी आप तो दे सकते हैं?

भ०—हाँ, मुझे आवश्यकता होती है तो दे देता हूँ।

सा०—आपको भी आवश्यकता?

भ०—हाँ, संसारमें जीवोंके कल्याणके लिये जो धर्म और भक्तिके प्रचार करनेकी आवश्यकता है वही मेरी आवश्यकता है।

सा०—उस समय आप उसको कितना अधिकार देते हैं?

भ०—जितना मुझको उससे कार्य लेना होता है।

सा०—यह अधिकार क्या आप सभी भक्तोंको दे सकते हैं या किसी-किसीको?

भ०—उदासीनको छोड़कर जो प्रसन्नताके साथ लेना चाहते हैं उन सभीको यह अधिकार दे सकता हूँ।

सा०—धर्म, सदाचार और भक्तिके प्रचारार्थ पूर्ण अधिकार देनेके योग्य आप किसको समझते हैं? कैसे स्वभाववाले भक्तको आप पूरा अधिकार दे सकते हैं?

भ०—जिसका दूसरोंके हितके लिये अनायास ही सर्वस्व त्याग करनेका स्वभाव है, जिसमें सबका कल्याण हो, ऐसी स्वाभाविक वृत्ति सदासे चली आ रही है और जो दूसरोंकी प्रसन्नतापर ही सदा प्रसन्न रहता है, ऐसे उदार स्वभाववाले परम दयालु प्रेमी भक्तको मैं अपना पूर्ण अधिकार दे सकता हूँ।

सा०—क्या आपकी प्राप्तिके बाद भी सब-के-सब भाव एक-से नहीं होते?

भ०—नहीं, क्योंकि साधनकालमें जिसका जैसा स्वभाव होता है प्राय: वैसा ही सिद्धावस्थामें भी होता है। किन्तु हर्ष, शोक, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्ताभाव सभीमें हो जाता है। एवं समता, शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी सबको समानभावसे ही होती है तथा शास्त्राज्ञाके प्रतिकूल कर्म तो किसीके भी नहीं होते। किन्तु सारे कर्म (शास्त्रानुकूल क्रियाएँ) मेरी आज्ञाके अनुसार होते हुए भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

सा०—फिर उनकी बाहरी क्रियाओंमें अन्तर होनेमें क्या हेतु है?

भ०—किसीका एकान्तमें बैठकर साधन करनेका स्वभाव होता है और किसीका सेवा करनेका। स्वभाव, प्रारब्ध और बुद्धि भिन्न-भिन्न होनेके कारण तथा देश-काल और परिस्थितिके कारण भी बाहरकी क्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

सा०—ऐसी अवस्थामें सबसे उत्तम तो वही है जिसको आप पूरा अधिकार दे सकते हों।

भ०—इसमें उत्तम-मध्यम कोई नहीं है। सभी उत्तम हैं। जिसके स्वभावमें स्वाभाविक ही काम करनेका उत्साह विशेष होता है, उसके ऊपर कामका भार विशेष दिया जाता है।

सा०—आपके बतलाये हुए काममें तो सबको उत्साह होना चाहिये।

भ०—मेरे बतलाये हुए काममें उत्साह तो सभीको होता है, किन्तु मैं उनके स्वभावके अनुसार ही कामका भार देता हूँ, किसीका स्वभाव मेरे पास रहनेका होता है तो मैं उसको बाहर नहीं भेजता। जिसका लोकसेवा करनेका स्वभाव होता है, उसके जिम्मे लोकसेवाका काम लगाता हूँ। जिसमें विशेष उपरामता

देखता हूँ उसके जिम्मे काम नहीं लगाता। जिसका जैसा स्वभाव और जैसी योग्यता देखता हूँ उसके अनुसार ही उसके जिम्मे काम लगाता हूँ।

सा०—किन्तु भक्तको तो ऐसा ही स्वभाव बनाना चाहिये जिससे आप निःसङ्कोच होकर उसके जिम्मे विशेष काम लगा सकें। अतः इस प्रकारका स्वभाव बनानेके लिए सबसे बढ़कर उपाय क्या है?

भ०—केवल एकमात्र मेरी अनन्य शरण ही।

सा०—अनन्य शरण किसे कहते हैं? कृपया बतलाइये।

भ०—गुण और प्रभावके सहित मेरे नाम और रूपका अनन्य भावसे निरन्तर चिन्तन करना, मेरा चिन्तन रखते हुए ही केवल मेरे प्रीत्यर्थ मेरी आज्ञाका पालन करना तथा मेरे किये हुए विधानमें हर समय प्रसन्न रहना।

सा०—प्रभो! आपका ध्यान (चिन्तन) करना मुझे भी अच्छा मालूम पड़ता है, किन्तु मन स्थिर नहीं होता। जल्दीसे इधर-उधर भाग जाता है। इसका क्या कारण है?

भ०—आसक्तिके कारण मनको संसारके विषय-भोग प्रिय लगते हैं तथा अनेक जन्मोंके जो संस्कार इकट्ठे हो रहे हैं, वे मनको स्थिर नहीं होने देते।

सा०—जिनसे न तो मेरे किसी प्रयोजनकी सिद्धि होती है और न जिनमें मेरी आसक्ति ही है, ऐसे व्यर्थ पदार्थोंका चिन्तन क्यों होता है?

भ०—मन स्वाभाविक ही चञ्चल है इसलिये उसे व्यर्थ पदार्थोंके चिन्तन करनेकी आदत पड़ी हुई है और उसे उनका चिन्तन रुचिकर भी है, यह भी एक प्रकारकी आसक्ति ही है, इसीलिये वह उनका चिन्तन करता है।

सा०—इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

भ०—मनकी सँभाल रखनी चाहिये कि वह मेरे रूपका ध्यान छोड़कर दूसरे किसी भी पदार्थोंका चिन्तन न करने पावे। इसपर भी यदि दूसरे पदार्थोंका चिन्तन करने लगे तो तुरंत इसे समझाकर या बलपूर्वक वहाँसे हटाकर मेरे ध्यानमें लगानेकी पुनः-पुनः तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये।

सा०—मनको दूसरे पदार्थोंसे कैसे हटाया जाय?

भ०—जैसे कोई बच्चा हाथमें चाकू या कैंची ले लेता है तो माता उसको समझाकर छुड़ा लेती है। यदि मूर्खताके कारण बच्चा नहीं छोड़ना चाहता तो माता उसके रोनेकी परवा न रखकर बलात् छुड़ा लेती है। वैसे ही इस मनको समझाकर दूसरे पदार्थोंका चिन्तन छुड़ाना चाहिये, क्योंकि यह मन भी बालककी भाँति चञ्चल है। परिणाममें होनेवाली हानिपर विचार नहीं करता।

सा०—यह तो मालूम ही नहीं पड़ता कि मन धोखा देकर कहाँ और कब किस जीचको चुपचाप जाकर पकड़ लेता है; इसके लिये क्या किया जाय?

भ०—जैसे माता बच्चेका बराबर ध्यान रखती है वैसे ही मनकी निगरानी रखनी चाहिये।

सा०—मन बहुत ही चञ्चल, बलवान् और उद्दण्ड है इसलिये इसका रोकना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है।

भ०—कठिन तो है पर जितना तुम मानते हो उतना नहीं है; क्योंकि यह प्रयत्न करनेसे रुक सकता है। अतएव इसको कठिन मानकर निराश नहीं होना चाहिये। माता बच्चेकी रक्षा करनेमें कभी कठिनता नहीं समझती, यदि समझे तो उसका पालन ही कैसे हो?

सा०—क्या मन सर्वथा बच्चके ही समान है?

भ०—नहीं, बच्चेसे भी बलवान् और उद्दण्ड अधिक है।

सा०—तब फिर इसका निग्रह कैसे किया जाय?

भ०—निग्रह तो किया जा सकता है; क्योंकि मनसे बुद्धि बलवान् है और बुद्धिसे भी तू अत्यन्त बलवान् है। इसलिये जैसे माता अपनी समझदार लड़कीके द्वारा अपने छोटे बच्चेको समझाकर या लोभ देकर यदि वह नहीं मानता तो भय दिखलाकर भी अनिष्टसे बचाकर इष्टमें लगा देती है, वैसे ही मनको बुद्धिके द्वारा भोगोंमें भय दिखाकर उसे इन नाशवान् और क्षणभङ्गुर सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर पुनः-पुनः मुझमें लगाना चाहिये।

सा०—इस प्रकार चेष्टा करनेपर भी मैं अपनी विजय नहीं देख रहा हूँ।

भ०—यदि विजय न हो तो भी डटे रहो, घबड़ाओ मत। जब मेरी मदद है तो निराश होनेका कोई कारण ही नहीं है। विश्वास रखो कि लड़ते-लड़ते आखिरमें तुम्हारी विजय निश्चित है।

सा०—प्रभो! अब यह बतलाइये कि जब मैं आपका ध्यान करनेके लिये एकान्तमें बैठता हूँ तो निद्रा, आलस्य सताने लगते हैं, इसके लिये क्या करना चाहिये?

भ०—हलका (लघु) और सात्त्विक तो भोजन करना चाहिये। शरीरको स्थिर और सीधा रखते हुए एवं नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर पद्मासन या स्वस्तिकादि किसी आसनसे सुखपूर्वक बैठना चाहिये तथा दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये एवं मेरे नाम, रूप, गुण, लीला और प्रभावादि जो तुमने महापुरुषोंसे सुने हैं या शास्त्रोंमें पढ़े हैं, उनका बारम्बार कीर्तन और मनन करना चाहिये। ऐसा करनेसे सात्त्विक भाव होकर बुद्धिमें जागृति हो जाती है, फिर तमोगुणके कार्य निद्रा और आलस्य नहीं आ सकते।

सा०—भगवन्! आपने गीतामें कहा है कि मेरा सर्वदा निरन्तर चिन्तन करनेसे मेरी प्राप्ति सुलभ है, क्योंकि मैं किये हुए साधनकी रक्षा और कमीकी पूर्ति करके बहुत ही शीघ्र संसार-

सागरसे उद्धार कर देता हूँ। किन्तु आप अपनी प्राप्ति जितनी सुलभ और शीघ्रतासे होनेवाली बतलाते हैं वैसी मुझे प्रतीत नहीं होती।

भ०—मेरा नित्य-निरन्तर चिन्तन नहीं होता है, इसीसे मेरी प्राप्ति तुझे कठिन प्रतीत होती है।

सा०—आपका कहना यथार्थ है। आपका निरन्तर चिन्तन करनेसे अवश्य आपकी प्राप्ति शीघ्र और सुगमतासे हो सकती है; किन्तु निरन्तर आपका चिन्तन होना ही तो कठिन है। उसके लिये क्या करना चाहिये?

भ०—मेरे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण ही निरन्तर मेरा चिन्तन करना कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें वह कठिन नहीं है।

सा०—आपका गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य क्या है? बतलाइये।

भ०—अतिशय समता, शान्ति, दया, प्रेम, क्षमा, माधुर्य, वात्सल्य, गम्भीरता, उदारता, सुहृदतादि मेरे गुण हैं। सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य और असम्भवको भी सम्भव कर देना आदि मेरा प्रभाव है। जैसे परमाणु, भाप, बादल, बूँदें और ओले आदि सब जल ही हैं, वैसे ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जंगम, सत्-असत् आदि जो कुछ भी है तथा जो इससे भी परे है, वह सब मैं ही हूँ। यह मेरा तत्त्व है। मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, स्तवन आदिसे पापी भी परम पवित्र हो जाता है, यह विश्वास करना तथा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वत्र समभावसे स्थित मुझ मनुष्यादि शरीरोंमें प्रकट होनेवाले और अवतार लेनेवाले परमात्माको पहचानना—यह रहस्य है।

सा०—इन सबको कैसे जाना जाय?

भ०—जैसे छोटा बच्चा आरम्भमें विद्या पढ़नेसे जी चुराता है,

किन्तु जब विद्या पढ़ते-पढ़ते उसके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको जान लेता है तो फिर बड़े प्रेम और उत्साहके साथ विद्याभ्यास करने लगता है तथा दूसरोंके छुड़ानेपर भी नहीं छोड़ना चाहता, वैसे ही सत्सङ्गके द्वारा मेरे भजन, ध्यान आदिका साधन करते-करते मनुष्य मेरे गुण, प्रभाव, रहस्यको जान सकता है, फिर उसे ऐसा आनन्द और शान्ति मिलती है कि वह छुड़ानेपर भी नहीं छोड़ सकता।

सा०—प्रभो! क्या आपका निरन्तर चिन्तन रखते हुए आपकी आज्ञाके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा व्यापार भी हो सकता है?

भ०—दृढ़ अभ्याससे हो सकता है। जैसे कछुएका अपने अण्डोंमें, गौका अपने छोटे बच्चेमें, कामीका स्त्रीमें, लोभीका धनमें, मोटर-ड्राइवरका सड़कमें, नटनीका अपने पैरोंमें ध्यान रहते हुए उनके शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा सब चेष्टाएँ भी होती हैं; इसी प्रकार मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी आज्ञाके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा सब काम हो सकते हैं।

सा०—आपकी आज्ञा क्या है?

भ०—सत्-शास्त्र, महापुरुषोंके वचन, हृदयकी सात्त्विक स्फुरणाएँ—ये तीनों मेरी आज्ञाएँ हैं। इन तीनोंमें मतभेद प्रतीत होनेपर जहाँ दोकी एकता हो उसीको मेरी आज्ञा समझकर काममें लाना चाहिये।

सा०—जहाँ तीनोंका भिन्न-भिन्न मत प्रतीत हो वहाँ क्या किया जाय?

भ०—वहाँ महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

सा०—क्या इसमें शास्त्रोंकी अवहेलना नहीं होगी?

भ०—नहीं, क्योंकि महापुरुष शास्त्रोंके विपरीत नहीं कह सकते। सर्वसाधारणके लिये शास्त्रोंका निर्णय करना कठिन है तथा

इसका यथार्थ तात्पर्य देश और कालके अनुसार महात्मालोग ही जान सकते हैं। इसीलिये महापुरुष जो मार्ग बतलावें वही ठीक है।

सा०—केवल हृदयकी सात्त्विक स्फुरणाको ही भगवत्-आज्ञा मान लें तो क्या आपत्ति है?

भ०—मान सकते हो। किन्तु वह स्फुरणा शास्त्र या महापुरुषोंके वचनोंके अनुकूल होनी चाहिये। क्योंकि साधकको शासककी आवश्यकता है, नहीं तो अज्ञानवश कहीं राजसी, तापसी स्फुरणाको सात्त्विक माननेसे साधकमें उच्छृङ्खलता आकर उसका पतन हो सकता है।

सा०—यहाँ शास्त्रसे आपका क्या अभिप्राय है?

भ०—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि जो आर्षग्रन्थ हैं, वे सभी शास्त्र हैं। किन्तु यहाँपर भी मतभेद प्रतीत होनेपर श्रुतिको ही बलवान् समझना चाहिये; क्योंकि स्मृति, इतिहास, पुराणादिका आधार श्रुति ही है।

सा०—श्रुति, स्मृति आदि सारे शास्त्रोंका ज्ञान होना साधारण मनुष्योंके लिये कठिन है, ऐसी अवस्थामें उनके लिये क्या आधार है?

भ०—उन पुरुषोंको शास्त्रोंके ज्ञाता महापुरुषोंका आश्रय लेना चाहिये।

सा०—महापुरुष किसे माना जाय?

भ०—जिसको तुम अपने हृदयसे सबसे श्रेष्ठ मानते हो, वे ही तुम्हारे लिये महापुरुष हैं।

सा०—प्रभो! मेरी मान्यतामें भूल एवं उसके कारण मुझे धोखा भी तो हो सकता है।

भ०—उसके लिये कोई चिन्ता नहीं। मेरे आश्रित जनकी मैं स्वयं सब प्रकारसे रक्षा करता हूँ।

सा०—प्रभो! मैं महापुरुषकी जाँच किस आधारपर करूँ? महापुरुषके लक्षण क्या हैं?

भ०—गीताके दूसरे अध्यायमें श्लोक ५५ से ७१ तक स्थितप्रज्ञके नामसे अथवा छठे अध्यायमें श्लोक ७ से ९ तक योगीके नामसे या अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ तक भक्तिमान्‌के नामसे अथवा अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ तक गुणातीतके नामसे बतलाये हुए लक्षण जिन पुरुषोंमें हों वे ही महापुरुष हैं।

सा०—ऐसे महापुरुषोंका मिलना कठिन है; ऐसी परिस्थितिमें क्या करना चाहिये?

भ०—ऐसी अवस्थामें सबके लिये समझनेमें सरल और सुगम सर्वशास्त्रमयी गीता ही आधार है, जो कि अर्जुनके प्रति मेरे द्वारा कही गयी है।

सा०—प्रधानतासे गीतामें बतलाये हुए किन-किन श्लोकोंको लक्ष्यमें रखकर साधक अपना गुण और आचरण बनावे?

भ०—इसके लिये गीतामें बहुत-से श्लोक हैं; उनमेंसे मुख्यतया ज्ञानके नामसे बतलाये हुए अध्याय १३ के श्लोक ७ से ११ तक या दैवी सम्पत्तिके नामसे बतलाये हुए अध्याय १६ के श्लोक १ से ३ तक अथवा तपके नामसे बतलाये हुए अध्याय १७ के श्लोक १४ से १७ तकके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

सा०—प्रभो! अब यह बतलाइये आपने कहा कि मेरे किये हुए विधानमें हर समय प्रसन्न रहना चाहिये। इसका क्या अभिप्राय है?

भ०—सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय आदिकी प्राप्तिरूप मेरे किये हुए विधानको मेरा भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा ही सन्तुष्ट रहना।

सा०—इन सबके प्राप्त होनेपर सदा प्रसन्नता नहीं होती। इसका क्या कारण है?

भ०—मेरे प्रत्येक विधानमें दया भरी हुई है, इसके तत्त्व और रहस्यको लोग नहीं जानते।

सा०—स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि जो सांसारिक सुखदायक पदार्थ हैं, वे सब मोह और आसक्तिके द्वारा मनुष्यको बाँधनेवाले हैं। इन सबको आप किसलिये देते हैं? और इस विधानमें आपकी दयाके रहस्यको जानना क्या है?

भ०—जैसे कोई राजा अपने प्रेमीको अपने पास शीघ्र बुलानेके लिये मोटर आदि सवारी भेजता है वैसे ही मैं पूर्वकृत पुण्योंके फलस्वरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि सांसारिक पदार्थोंको दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये एवं सदाचार, सद्गुण और मुझमें प्रेम बढ़ाकर मेरे पास शीघ्र आनेके लिये देता हूँ। इस प्रकार समझना ही मेरी दयाके रहस्यको जानना है।

सा०—स्त्री, पुत्र, धनादि सांसारिक पदार्थोंके विनाशमें आपकी दयाका तत्त्व और रहस्य क्या है?

भ०—जैसे पतङ्गे आदि जन्तु रोशनीको देखकर मोह और आसक्तिके कारण उसमें गिरकर भस्म हो जाते हैं; और उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर दयालु मनुष्य उस रोशनीको बुझा देता है, ऐसा करनेमें यद्यपि वे जीव नहीं जानते तो भी उसकी उनके ऊपर महान् दया ही होती है। इसी प्रकार मनुष्यको भोग और आसक्तिके द्वारा बाँधकर नरकमें डालनेवाले इन पदार्थोंका नाश करनेमें भी मेरी महान् दया ही समझनी चाहिये।

सा०—आप मनुष्यको आरोग्यता, बल और बुद्धि आदि किसलिये देते हैं?

भ०—सत्सङ्ग, सेवा और निरन्तर भजन-ध्यानके अभ्यासद्वारा मेरे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझनेके लिये।

सा०—व्याधि और संकट आदिकी प्राप्तिमें आपकी दयाका दर्शन कैसे करें?

भ०—व्याधि और संकट आदिके भोगद्वारा पूर्वकृत किये हुए पापरूप ऋणसे मुक्ति तथा दुःखका अनुभव होनेके कारण भविष्यमें पाप करनेमें रुकावट होती है। मृत्युका भय बना रहनेसे शरीरमें वैराग्य होकर मेरी स्मृति होती है। इसके अतिरिक्त यदि व्याधिको परम तप समझकर सेवन किया जाय तो मेरी प्राप्ति भी हो सकती है। ऐसा समझना मेरी दयाका दर्शन करना है।

सा०—महापुरुषोंके सङ्गमें आपकी दया प्रत्यक्ष है, किन्तु उनके वियोगमें आपकी दया कैसे समझी जाय?

भ०—प्रकाशके हटानेसे ही मनुष्य प्रकाशके महत्त्वको समझता है। इसलिये महापुरुषोंसे पुनः मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करने और उनमें प्रेम बढ़ानेके लिये एवं उनकी प्राप्ति दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण है, इस बातको जाननेके लिये ही मैं उनका वियोग देता हूँ, ऐसा समझना चाहिये।

सा०—कुसङ्गके दोषोंसे बचानेके लिये आप दुष्ट-दुराचारी पुरुषोंका वियोग देते हैं, इसमें तो आपकी दया प्रत्यक्ष है; किन्तु बिना इच्छा आप उनका सङ्ग क्यों देते हैं?

भ०—दुराचारसे होनेवाली हानियोंका दिग्दर्शन कराकर दुर्गुण और दुराचारोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये मैं ऐसे मनुष्योंका सङ्ग देता हूँ। किन्तु स्मरण रखना चाहिये, जो जान-बूझकर कुसङ्ग करता है, वह मेरा दिया हुआ नहीं है।

सा०—सर्वसाधारण मनुष्योंके संयोग और वियोगमें आपकी दया कैसे देखें?

भ०—उनमें दया और प्रेम करके उनकी सेवा करनेके लिये तो संयोग एवं उनमें वैराग्य करके एकान्तमें रहकर निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करनेके लिये वियोग देता हूँ, ऐसा समझना ही मेरी दयाका देखना है।

सा०—नीति-धर्म और भजन-ध्यानमें बाधा पहुँचानेवाले

मामले-मुकद्दमे आदि झंझटोंमें आपकी दयाका अनुभव कैसे करें?

भ०—नीति-धर्म, भजन-ध्यान आदिमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय तथा कमजोरीके कारण ही बाधा आती है। जो मनुष्य न्यायसे प्राप्त हुए मुकद्दमे आदि झंझटोंको मेरा भेजा हुआ पुरस्कार मानकर नीति और धर्म आदिसे विचलित नहीं होता है; उसमें आत्मबलको बढ़ानेवाले धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि गुणोंकी वृद्धि होती है, यह समझना ही मेरी दयाका अनुभव करना है।

सा०—भक्तकी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठादिको आप क्यों हर लेते हैं, इसमें क्या रहस्य है?

भ०—अज्ञानरूपी निद्रासे जगाने एवं साधनकी रुकावटको दूर करने तथा दम्भको हटाकर सच्ची भक्ति बढ़ानेके लिये ही मैं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको हर लेता हूँ। यही रहस्य है।

सा०—आपकी विशेष दया क्या है?

भ०—मेरे भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग, सद्गुण और सदाचार आदिकी जो स्मृति, इच्छा और प्राप्ति होती है—यह विशेष दया है।

सा०—जब ऐसा है तब कर्मोंके अनुसार आपके किये हुए इन सब विधानोंको आपका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये।

भ०—बात तो ऐसी ही है, किन्तु लोग समझते कहाँ हैं।

सा०—समझनेके लिये क्या करना चाहिये?

भ०—गुण और प्रभावके सहित मेरे नाम-रूपका अनन्यभावसे निरन्तर चिन्तन तथा मेरा चिन्तन रखते हुए ही मेरी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण और मेरी दयाके रहस्यको जाननेवाले सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये।